वर्चस्व को नकारना भारतीय संघ का स्वधर्म है

योगेन्द्र यादव

अब तक हम भारत गणराज्य के स्वधर्म के 3 सूत्रों की व्याख्या कर चुके हैं। अंतिम कड़ी में यहां हम चौथे सूत्र यानी संघवाद की चर्चा करेंगे, जिसे फैडरलिज्म कहा जाता है। संविधान के पहले अनुच्छेद के अनुसार भारत 'राज्यों का संघ होगा'। लेकिन अंग्रेजी में इसे 'फैडरेशन' नहीं 'यूनियन ऑफ स्टेट्स' कहा गया। जाहिर है इस असहजता की पृष्ठभूमि थी देश का बंटवारा, जिसकी परछाई संविधान निर्माण पर देखी जा सकती है। संविधान निर्माता अब किसी और बंटवारे से बचने के लिए केंद्र को खुला हाथ देना चाहते थे। लेकिन 'फैडरेशन' का इस्तेमाल न करने के पीछे यह आग्रह भी रहा होगा कि राष्ट्रीयता और क्षेत्रीयता को बने-बनाए यूरोपीय सांचे में न ढाला जाए। संविधान निर्माता समझ रहे थे कि भारत न तो यूरोपीय अर्थ में एकात्मक या केंद्रीकृत है और न ही अमरीकी अर्थ में संघात्मक। भारत की एकता न तो समरूपता की चाह रखती है, न ही बहुलता का महिमामंडन करती है। 'यूनियन' जैसा ढीला शब्द भारत की इस अनूठी बुनावट को बनाए रखने और हमें अपने रिश्तों को अपने तरीके से परिभाषित करने की आजादी देता है। इस अनूठेपन में भारत गणराज्य के स्वधर्म का चौथा सूत्र छुपा है। यह एक मूल्य नहीं, बस एक एहसास है, भारत की बुनावट की सहज स्वीकारोक्ति है। यह भाव भारतीय दर्शन में है, इतिहास में है, संस्कृति में है और जनमानस में है।

भारतीय दर्शन की विशेषता यही है कि इसका नैतिक बोध किसी शाश्वत नियमों से यांत्रिक रूप से बंधा नहीं है। नैतिकता देश, काल और पात्र सापेक्ष है। यह समझ किसी एक दार्शनिक या धार्मिक परंपरा से नहीं जुड़ी। वैदिक काल से लेकर धर्मशास्त्र तक, बौद्ध और जैन दर्शन में, सूफी संतों से दारा शिकोह तक सभी में यह भाव मौजूद है। भाषा चाहे धर्म और विवेक की हो या अनेकान्तवाद और प्रतीत्यसमुत्पाद अथवा अहवाल, इज्तेहाद, तमीज और मुनासबत की, इन सबने परिस्थिति सापेक्ष नैतिकता की व्याख्या की। इनके लिए विविधता एक मूल्य या आदर्श नहीं था, बल्कि सामाजिक हकीकत थी, जिसे इन्होंने सहज रूप से ग्रहण किया।

यही भाव सामाजिक और राजकीय नियम-कानून को एकांगी होने से रोकता है। देशाचार या देश धर्म की अवधारणा इसी भाव की अभिव्यक्ति है। हर इलाके और समुदाय के अपने अलग आचार-व्यवहार, रीति-रिवाज हैं। सबको एक ही चाल में ढालने की बजाय इस विविधता का सम्मान करना चाहिए। जहां शास्त्र चुप हैं, वहां सामाजिक मान्यता

मर्यादा का स्रोत है। धर्म हमेशा संस्कार का स्रोत नहीं होता। संस्कार भी धर्म का स्रोत हो सकता है। यही विचार सल्तनत और मुगल काल में भी विकसित हुआ। इसके चलते समस्त प्रजा पर शरिया और शाही कानून थोपने की बजाय राज्य के बड़े इलाके और समुदाय के लिए 'उर्फ' यानी स्थानीय तौर-तरीके और सामाजिक मान्यता को स्वीकार किया गया। यह न सिर्फ रणनीति थी, न सिर्फ राजनीतिक दर्शन। यह एक गहरी राजनीतिक समझ थी।

यह भाव और समझ भारत गणराज्य की बुनियाद में है। भारतीय राज्य केवल एक आधुनिक 'सम्पूर्ण प्रभुत्व संपन्न' राज्य नहीं है। वह तो भारतीय राज्य की ऊपरी परत है। उसके नीचे इतिहास की कई और परतें हैं। भारत में राजसत्ता कभी भी सम्पूर्ण प्रभुत्व संपन्न नहीं रही। प्राचीन काल में सम्राट चाहे जितना बड़ा हो, उसकी सत्ता सीमित थी। न तो वह कानून का एकमात्र निर्धारक था, न धार्मिक और सामाजिक तौर तरीकों में दखल दे सकता था तथा न ही अविभाजित वफादारी मांग सकता था। राजा की सत्ता समाज की सत्ता के साथ थी, उसके ऊपर नहीं। मुगल राज आने के बाद राज्य की वित्तीय, सैन्य और संस्थागत क्षमता बहुत बढ़ी। लेकिन मुगल बादशाह को भी अपनी संप्रभुता में सांझेदारी करनी पड़ती थी-जमींदारों, स्थानीय राजाओं, धार्मिक संस्थाओं और सामाजिक संगठनों के साथ। मुगल साम्राज्य में न तो एक जैसा कानून था, न एक नागरिकता और न ही धार्मिक और सामाजिक मामलों का एकाधिकार।

राज्य सत्ता की इस बुनावट पर औपनिवेशिक राज ने आधुनिक राष्ट्र और राज्य की परत बिछाई। इसने हमारे समाज और राजनीतिक सत्ता के स्वरूप में बुनियादी बदलाव किए। बेशक भारत गणराज्य का औपचारिक स्वरूप एक राष्ट्र-राज्य की आधुनिक परिपाटी के मुताबिक चलता है लेकिन व्यवहार में भारतीय सभ्यता की गहरी बुनावट ने आधुनिक राष्ट्र, प्रभुत्व संपन्न राज्य और लोकतांत्रिक राजनीति का रूप रंग बदल दिया है। एकछत्र केंद्रीयकृत प्रभुत्वशाली सत्ता हमारी सभ्यता का मिजाज नहीं है। इसलिए व्यवहार में आधुनिक राज्य की शक्ति हमेशा मर्यादित रही है। अकेंद्रित सत्ता, सांझा प्रभुत्व और गठबंधन आधारित शक्ति ही हमारे समाज का स्वधर्म रहा है।

भारतीय संविधान में संघ या यूनियन की अवधारणा को इस रौशनी में देखना उचित होगा। यह यूरोप-अमरीका की काट का फैडरेशन नहीं है। भारतीय संघ में सत्ता का बंटवारा पश्चिमी फैडरेशन से अलग किस्म का है। भारतीय संघ अमरीका की तर्ज पर अनेक प्रभुत्व संपन्न राज्यों के स्वैच्छिक समझौते से बना एक राज्य नहीं है। न ही यह सोवियत संघ वाले अंदाज में अनेक राष्ट्रों के मिलन से बना एक बहुराष्ट्रीय राज्य है। भारत गणराज्य की बुनियाद

औपनिवेशिक सत्ता के खिलाफ संघर्ष से पैदा हुई एकजुटता में है। इस गणराज्य की क्षेत्रीय इकाइयों ने वयस्क होने के बाद एक दूसरे से संबंध बनाने का फैसला नहीं लिया। इनकी पैदाइश ही एक साथ हुई। यहां शक्ति के बंटवारे का मतलब केवल कार्यपालिका, विधायिका और न्यायपालिका में बंटवारा नहीं है। सरकार और समाज में सत्ता का बंटवारा हमारा स्वधर्म है। यहां सत्ता के स्वायत्त दायरे की जरूरत सिर्फ केंद्र और राज्य सरकार के बीच नहीं, बल्कि उसके बहुत नीचे पंचायत और मुहल्ला सरकार तक है। यहां राष्ट्रीय एकता बाकी सब भाषाई और क्षेत्रीय पहचान को खत्म करके नहीं बनती। यहां की तमाम भाषाई संस्कृतियों की पहचान भारत से अलग नहीं है, भारत पर निर्भर भी नहीं है। दरअसल भारत की पहचान इन सब पहचानों को जोड़ कर बनती है।

भारतीय संघ की बुनियाद में वर्चस्व को नकारने वाला एक अलिखित समझौता है। केंद्र सरकार, भाषा या सांप्रदायिक लिहाज से बहुसंख्यक समाज या कोई भी सांस्कृतिक समुदाय अपना वर्चस्व स्थापित नहीं करेगा। इसलिए हमारी सभ्यता के मिजाज के खिलाफ जाकर एक देश, एक भाषा, एक धर्म, एक जाति की तर्ज पर राष्ट्रीय एकता को एकरूपता की तरह परिभाषित करना हमारे स्वधर्म का विलोम है।

---

https://m.punjabkesari.in/blogs/news/it-is-the-dharma-of-the-indian-union-to-reject-hegemony-2298129